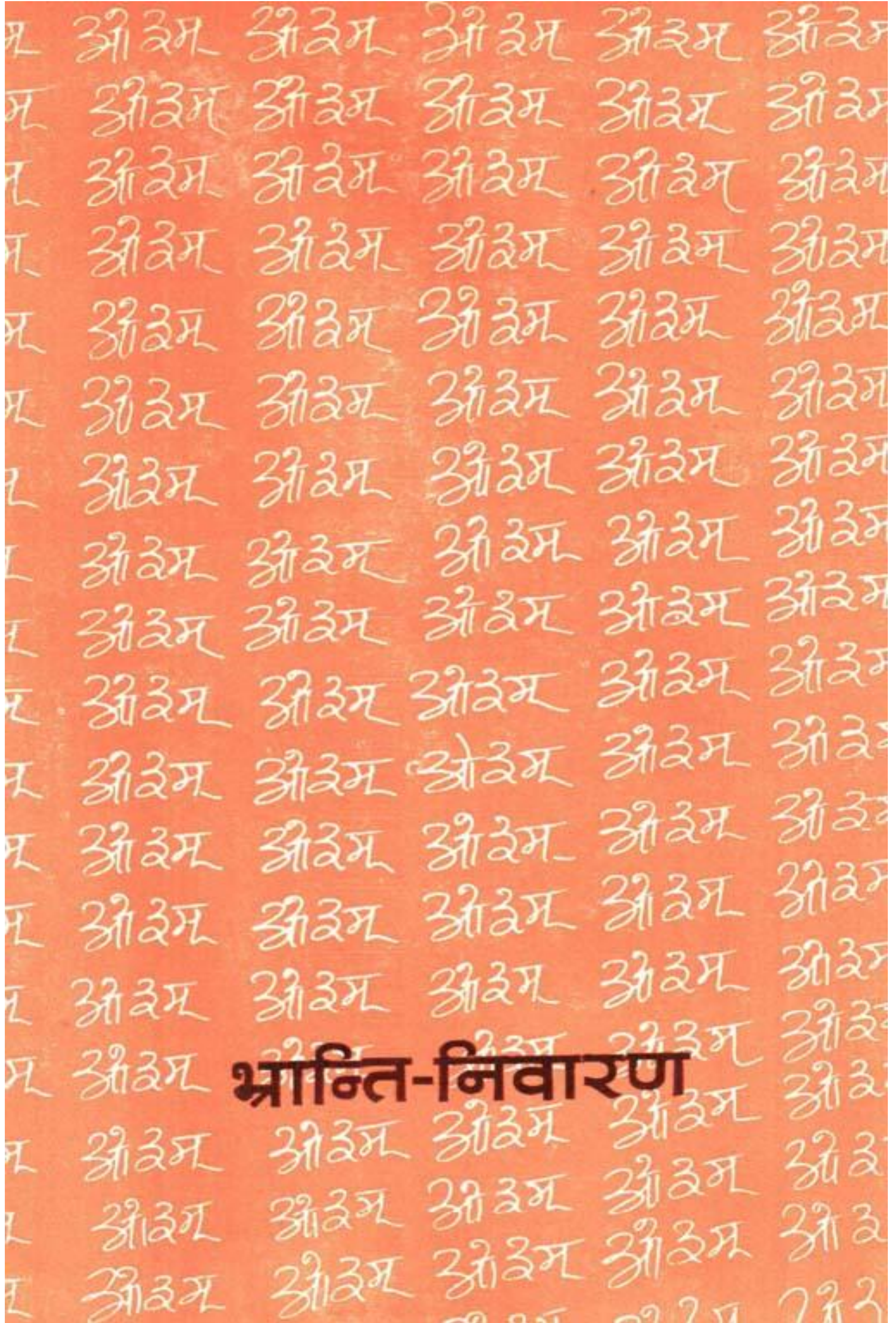

भ्रान्ति-निवारण

भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है, कि जो सब प्राचीन ऋषियों की की हुई व्याख्या और अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है, जिससे इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्यन्त वर्त्तमान हैं। और मेरे बनाये मासिक अङ्कों में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहाँ तहाँ लिख दिये हैं, कि देखने वालों को सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रान्ति वा शङ्का मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे, कि जिससे देशभर की हानि हो और उस को भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुये को देख कर ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे कि निषिद्ध कर्म वा हानि को देखकर होते हैं।

जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं, कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख दुःख हैं, तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूं मैं तो अपना तन-मन-धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता, किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझ को चक्रवर्त्ती राज्य के तुल्य है।

मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालने वाले चतुर कम होंगे, किन्तु मलीन मच्छों की नांई निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़ने वाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्मकार्य का सर्व-शक्तिमान् सत्यग्राहक और न्यायसम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धर के उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रन्थ के विषय में जो शंका होंगी तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करने वालों को होंगी, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े और इतना न हुआ कि आँख खोल कर अथवा लालटेन लेकर चलें कि जिसमें चाल चूकने पर हांसी और दुःख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात् दीर्घदृष्टि वाले का काम है, नहीं तो गिरे की लज्जा का फिर क्या ही ठीक है।

इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफिथ साहब, सी० एच० टानी और पण्डित गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं कहीं अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी, सो उनका उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो आफीशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते, में के संस्कृत कालेज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़ कर सन के छूछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा बहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में खर्च होना न चाहिये, परन्तु दो बातों की सिद्धि समझ कर संक्षेप से कुछ लेख करना

आवश्यक जानता हूँ । एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्य विद्या पुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है । और दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट हो जाय कि ऐसी-ऐसी व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें । क्योंकि इससे कई कठिन शङ्का तो मेरे बनाए ग्रन्थों ही को ठीक-ठीक मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं, फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं ।

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है । अर्थात् महाभारत के युद्ध में जब अच्छे-अच्छे पूर्ण विद्वान वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे, विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूट कर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना-अपना छप्पर अपने २ हाथ से छाने की फिकर की, और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम-उत्तम विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट हो गया, और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया । बड़े शोक की बात यह है कि आँखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझ कर, अपनी अज्ञानता पर दुखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं । इस का परिणाम न जाने क्या होना है ।

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है कि उन को जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया और सत्यग्रन्थों का नाश किया । फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दुःख दिया । और जब से अङ्गरेजों ने इस देश में राज किया तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार करके प्रजा को समान दृष्टि से सुधारा । परन्तु कुछ २ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे । इसी से लोगों का उत्साह भी कमती होता गया । और आज तक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक-ठीक होता, तो किसी को शङ्का भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत-मतान्तर का न होता, जैसा कि पण्डित महेशचन्द्र का गुमान है । यह केवल उन का वेदों से विमुख होने का कारण है । इसलिये उनकी भ्रान्ति निवारण विषय में कुछ लिखा जाता है ।

—इति—

दयानन्दसरस्वती

• ओ३म् •

भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरत्व प्रश्नपुस्तक का पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की ओर से उत्तर

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी ने विरुद्ध पण्डितों के साथ में अपनी राय दी है, तो उन्हीं के उत्तर में इन का भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना ।

पं० महेश०—पण्डित दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम, विद्या और पण्डिताई निस्सन्देह प्रशंसा योग्य हैं, परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता ।

स्वामीजी—सम्मति देने वालों की निष्पक्षता और न्याय तो उन के कथन से ही प्रत्यक्ष है कि जिस को छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे । क्योंकि पण्डितजी लिखते हैं कि 'स्वामीजी सब तरह विद्या आदि पूर्ण गुणयुक्त होने से प्रशंसायोग्य हैं, परन्तु कुछ फलदायक नहीं ।' तो उन का यह कथन पूर्वापर विरोधी है, और इस में उन का हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है ।

पं० महेश०—स्वामीजी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है, तथा सब संसारी विद्या और वर्त्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थ विद्या वेदों से ही निकली है । इत्यादि बातें उन का काम मट्टी कर देती हैं ।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफिथ साहब के उत्तर में दे चुका हूँ । जब पण्डितजी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है तो उन को उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मन्त्र वेदों में से लिख कर यह बात सिद्ध करदें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है । क्योंकि उन्होंने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इस से इनके मन का अभिप्राय खुल गया, और उन की विद्या की थाह मिल गई कि उन्होंने जो अटकल-पच्चू कूप शब्द के समान चतुराई दिखलाई है, ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् हलदी की गांठ के बल से लिखकर बैठ रहे, कि जिस में वृथा कीर्ति देश में हो जावे ।

सो पण्डितजी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे । यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़ कर सब कलई खुल जावेगी । और मैं तो अपनी थोड़ीसी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा वह सब को मालूम होता जावेगा,

और जितना कर चुका वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डितजी ने भी समझ लिया होगा, परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कंद का स्वाद जानकर यथार्थ और निष्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं।

परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य सम्पूर्ण हो जावे तो निस्सदेह इस आर्य्यावर्त्त देश में सूर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिस के मेटने और झांपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिस को कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आजावे, तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं० महेश०—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्मप्रचारी ग्रन्थों को नहीं मानते कि जिन में कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ खिचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उन को यही उचित है कि वेदों को भी एक तरफ डाल कर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार वर्ताव वर्त्तें।

स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है, तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी नहीं। और कल्पना किया कि देखे हों तो केवल दर्शनमात्र किया हो, नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डितजी से पूछें कि उन्होंने हिन्दू शब्द कौन से ग्रन्थ में देखा है, कि जिस के अर्थ गुलाम वा काफिर आदि के हैं, और जो कि आर्य्यावर्त्तियों को कलंकरूप नाम यवनादिक की ओर से है। और आर्य्य शब्द जिस के अर्थ श्रेष्ठ के हैं, वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है। सो पण्डितजी नौका में धूर उड़ाते हैं। सो कब हो सकता है? और भूषण को दूषण करके मानते हैं, तो माना करो, परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उल्टी रीति निज धर्मशास्त्र से विरुद्ध कभी नहीं होगी।

आगे वे लिखते हैं कि 'स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिन में कर्मकाण्ड का विधान है।' तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझ से मिलकर चिरकाल विचार किया, और न उन्होंने मेरे बनाये हुये ग्रन्थ देखे, किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राज-महलों का। क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेके पूर्व मीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।

तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल है, उस सब को मानता हूँ, उस से विरुद्ध को नहीं। क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थसाधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद युक्ति

वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो जो संस्कार आदि मैं मानता हूं वे सब मेरी बनाई हुई वेद भूमिका अङ्क ३ में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

और वे लिखते हैं कि 'वेदों को भी एक तरफ धर दें केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें' तो उत्तर यह है कि मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता, और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य का ग्रहण करें।

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है, वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है, परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम 'वेदोत्पत्ति प्रकरण' में देख लेना चाहिये। परन्तु इतना यहां भी मैं कहता हूँ कि आर्य्य लोग सनातन से युक्ति-प्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत मानते बराबर चले आये हैं। इस का ठीक ठीक विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं, हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है।

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वतः प्रमाण हैं कि उन में बहुधा होम बलिदान आदि का विधान है। तथा इस का प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिन को स्वामीजी भी मानते हैं। इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं, सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामीजी की तरह अपनी नवीन रीति से मन्त्रभाष्य की रचना करे। देखना चाहिये कि यह स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उन के भाष्य की परीक्षा करूंगा।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है, उस सब को प्रमाण और युक्ति सिद्ध होने के कारण मैं मानता हूं, और सब को अवश्य मानना चाहिये, जैसे कि वेदभूमिका अङ्क ३ के 'यज्ञप्रकरण' में लिख दिया है। उस से विरुद्ध जो बलिदान आदि आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है, यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पंडितजी का जो कथन है, सो केवल अप्रमाण है, और पंडितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देश भर को हो ही जावेगी, परन्तु पंडितजी की विद्या तो अभी तुल गई।

पं० महेश०—स्वामीजी का मन्त्रभाष्य ही अद्भुत नहीं है, किन्तु उन के लिखने की रीति और व्याकरण भी पंडितों के आगे हंसी के कराने वाले हैं। तथा कई अशुद्धियां जो उन के परीक्षकों ने निकाली हैं, वे इस बात को साफ साफ

सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते किन्तु अपनी कीर्त्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे 'उपचक्रे' शब्द को पाणिनी के 'गन्धनावक्षे०' सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि 'उपचक्रे' में आत्मनेपद लाया गया है साफ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उप कृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है, और न स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उस का भाषा में अर्थ करते हैं कि 'किया है'।

स्वामीजी—इन का उत्तर मैं पंडित गुरुप्रसाद आदि के 'तर्कखंडन' के साथ दे चुका हूँ, और पंडितजी ने कुछ उन से विशेष पकड़ नहीं की है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्यामी परमेश्वर के जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूं वा केवल विजय, अर्थात् नाम की प्रसिद्धि।

भाषार्थ में जो शब्द 'किया है' लाया गया तो इस का कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं। क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है, उन को विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और 'उप, कृञ्' धातु का अर्थ है 'उपकार और किया' ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक ठीक घट सकता है।

पं० महेश०—खैर ये तो साधारण बातें थीं, परन्तु अब मैं भारी भारी दोषों पर आता हूँ। मन्त्रभाष्य के प्रथम संस्कृतखंड में 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इस के भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है, जबकि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है।

स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं, परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं, अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो जो शब्द उन में ईश्वरार्थ में लिखे हैं, उन में अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामीजी इसी पक्ष में ऐतरेयब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—"अग्निर्वै सर्वा देवताः ॥ ऐ० १। पं० १॥" जिस का यहां कुछ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षास्थिति यज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम. हाग साहब के टीका सहित लिखता हूँ।

स्वामीजी—अब पंडितजी की ऐसी पकड़ से मालूम हो गया कि उन को संस्कृत ग्रन्थ समझने का बहुत ही बोध है, और विद्वानों को चाहिये कि पंडितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि

उन्होंने प्राचीन ऋषि मुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे, और उन को ठीक ठीक अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं। क्योंकि जिन जिन ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त आदियों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं, उन को ठीक ठीक विचारने से आयने के समान जान पड़ता है कि 'अग्नि' शब्द से 'आग' और 'ईश्वर' दोनों का ग्रहण है। जैसे देखो कि—

१-'इन्द्रं मित्रं वरुण०॥' २-'तदेवाग्निस्तदादित्य०॥' ३-'अग्निर्होता कविः० ॥' ४-'ब्रह्म ह्यग्निः॥' ५-'आत्मा वा अग्निः॥'

देखिये विद्यानेत्र से इन पांच प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। 'अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ॥' और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार "संवत्सरोऽग्निः॥' इत्यादि प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से ठीक ठीक परमेश्वर का ग्रहण होता है।

तथा 'अग्निर्वै सर्वा देवताः॥' इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है। क्योंकि जहां उपास्य उपासक प्रकरण में सर्व देवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है, इस में मनु का प्रमाण दिया है। क्योंकि—

'यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः॥'

जो वे इस पंक्ति का अभिप्राय समझते तो उन को अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता।

तथा निरुक्त से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो 'अग्रणी' इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है, इस में कुछ सन्देह नहीं। और दूसरा हेतु यह है कि 'इतात्' इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि 'इण् गतौ' इस धातु से यहां ज्ञानार्थ ही अभिप्रेत है। 'दग्धात्' इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा, परमेश्वर नहीं। तथा 'अक्तात्' और 'नीतात्' इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं। क्योंकि इण् धातु से ऋषि का प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता, तो 'अक्तात्, दग्धात्, नीतात्' ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते।

तथा जो 'अग्नि' शब्द से धात्वर्थ ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता, तो पृथक् पृथक् धातुओं को नहीं गिनते। और 'अग्निर्वै सर्वा देवताः इति निर्वचनाय' इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं कि जिस को बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं, जो कि एक अद्वितीय सब से बड़ा सब का आत्मा है, उसी को 'अग्नि' कहते हैं।

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ।।''

इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञान प्रकाशयुक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सब से सूक्ष्म तथा आधार है, उस का, और जो विद्युत्‌रूप गुण वाला सब से सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है, इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है।

इसी प्रकार 'अग्निः पवित्रमुच्यते ।।' इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा 'प्रशासितारं०' जो सब को शिक्षा करने वाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वकाशस्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य पर पुरुष परमात्मा है, विद्वान् उसी को परमेश्वर जानें। फिर 'एतमेके वदन्त्यग्नि०' विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं।

ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक ठीक घटते हैं, परन्तु जो पण्डितजी के घर के निराले ग्रन्थ हैं, उन में न होगा। और कदाचित् वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं उन में अग्नि शब्द नहीं आता, इस से मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर का वाची नहीं, तो समझना चाहिये कि जैसे-निघण्टु के अ० २। खं० २२। में जो 'राष्ट्री, अर्य्यः, नियुत्वान् इनः' ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं। और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों,वे ही माने जायं, औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं, और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते? और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्मः, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं? यह पण्डितजी की बिलकुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के विना लिखे भी लिये जाते हैं, वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्वपक्ष में जो कुछ अवश्य या संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क में विस्तारपूर्वक सिद्ध कर दी है, वहां देख लेना।

पंडितजी आर० ग्रिफिथ साहब और सी० एच० टानी साहबों के पीछे पीछे चलते हैं। सो इस का कारण यह है कि पंडितजी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है। और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अंग्रेजी में देख लिये होंगे। उन से क्या हो सकता है। जब तक सत्य ग्रन्थों और मूलमन्त्रों को न देखें समझें, तब तक वेद-मन्त्रों का अभिप्राय ठीक ठीक जान लेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पंडितजी का और कथन भी है, इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं—

'अग्निर्वै सर्वा देवताः देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' इत्यादि पर जो पंडितजी ने लिखा है, सो भी अयुक्त है। क्योंकि वेदमन्त्रादि प्रमाणों को छोड़ कर 'अग्निर्वै सर्वा०' इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पंडितजी ने

भाष्य की परीक्षा तो न की किन्तु छल अवश्य किया है। सो भी पंडितजी ने इस वाक्य को तो लिखा परन्तु उस के अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि इस का अभिप्राय यह है कि-सब कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्य्यन्त होम क्रिया में अग्नि मन्त्र प्रथम और विष्णु मन्त्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं। जहां कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं, वहां भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है। तथा "अग्निर्देवता०" इस मन्त्र में भी अग्नि का प्रथम और विष्णु का अन्त में ग्रहण किया है। सो एतरेय ब्राह्मण के पं० १, अ० २, क० १० में लिखा है कि-'त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव' इत्यादि।

तथा शतपथ ब्राह्मण में भी इसी बात की व्याख्या वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ के पृष्ठ ५९ की पंक्ति ३१ में देवता शब्द से किस किस को किस किस गुण से ग्रहण करना लिखा है, वहां देख लेना। तथा उसी अङ्क ३ के पृष्ठ ६६ पंक्ति ७ में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापति यज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण कर दी है। इसलिये 'अग्निर्दे०' इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है। सो पूर्व लिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण हो जायगी। तथा उक्त साहब लोगों और पंडितजी की यह भी शंका निवृत्त हो जावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है, किन्तु जिस जिस हेतु से जिस जिस पदार्थ का नाम देव धरा है, उस उस को वहां अर्थात् अङ्क ३ में देख लेना।

और डाक्टर एम० साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं, तो यह पंडितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़ कर इधर उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके, वह बिना परीक्षा वा विचार के मान लेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य्य ऋषि मुनियों से बढ़कर हैं, कि जिन को हम सर्वोपरि मान निश्चय कर लें, और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें, जैसा कि पंडितजी ने किया है। जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो, मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं।

तथा इस कण्डिका में भी 'यज्ञस्यान्ते' वचन में आदि में अग्निमन्त्र और अन्त में विष्णुमन्त्र का प्रयोग किया जाता है, फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मन्त्र देवते गिने हैं, अग्नि को प्रथम [इस कारण माना है कि] जिन जिन द्रव्यों का वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है, वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य्य के आकर्षण से वायु द्वारा आकाश में चढ़ जाते हैं। फिर मेघमण्डल में जलवृष्टि के साथ उतर कर बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं, उन सभों को लाभ पहुंचाते हैं। इस अभिप्राय को पंडितजी नहीं समझते हैं।

पं० महेश०— अब ऊपर के वचन से साफ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं, किन्तु निस्सन्देह देवता विधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेंट करना लिखा हुआ है। इस वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है, किन्तु उस में ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात को साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण देते हैं—'यत्रोपास्यत्वेन०' अर्थात् जहां सब देवों का पूजन कहा है, वहां परमेश्वर को समझना चाहिए। फिर इस की पुष्टि में स्वामीजी मनु का प्रमाण देते हैं, 'आत्मैव देवता: सर्वा:०' अर्थात् आत्मा सब देव है, और आत्मा ही में संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी का मन प्रसन्न प्रमाण की पुष्टता कैसे कर सकती है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया है। परन्तु पक्षपात छोड़ के विद्या की आँख से देखने वाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है, उस का उत्तर 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अङ्क ३ के 'देवता विधान प्रकरण' को देखने से अच्छे प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस जिस गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है, उस को देख लेना चाहिए। क्योंकि वहां यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दी है। परन्तु चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है। और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है, किन्तु उन की दिव्यगुणों से व्यवहार-मात्र में 'देवता' संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है।

और जो पंडितजी लिखते हैं—'अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं। इस का उत्तर यह है कि इस में वेद, वेदान्त, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं, किन्तु इसमें पंडितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा, उस के उलटे ज्ञान हो जाने का सम्भव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अङ्क ४ में ८६ के पृष्ठ से ९२ तक 'ब्रह्मविद्याप्रकरण' की समाप्ति पर्य्यन्त देखना चाहिए।

'आत्मैव देवता: सर्वा:०' इस का अभिप्राय पंडितजी ने ठीक ठीक नहीं समझा है। क्योंकि इस का मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन, पालन और विनाश करने वाला है। तथा 'अग्नि-र्देवता:०' इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर

का भी ग्रहण है। क्योंकि 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्' इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है सो उसी में स्थिर है, और वही सब में व्यापक है। इस अभिप्राय से यह बात तो सिद्ध है ही कि है। अग्नि परमेश्वर का भी नाम है। इस से मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है।

पं० महेश०—ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं। क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि अन्त के देव हैं, जिन के द्वारा सब बीच वालों को भाग पहुँचता है। इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है। इस में स्वामीजी ऐतरेय ब्राह्मण का जो प्रमाण देते हैं, सो उन के कथन की पुष्टि तो नहीं करता किन्तु विरुद्ध पड़ता है।

स्वामीजी—अब जो पंडितजी 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' इस में भ्रान्त हुए हैं, सो ठीक नहीं। और जो 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ॥' इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है, इस का अर्थ ठीक ठीक पंडितजी नहीं समझे हैं। इस का अभिप्राय यह है कि 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' विष्णुः सर्वा देवताः' इस का भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है। और जहाँ भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं, वहां पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्य-यज्ञ में संघटित यथावत् की गई हैं। क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उस से सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक् पृथक् हो जाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य के आकर्षण से वायु के साथ मेघमण्डल में जाके रहते हैं। फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं। इस का नाम 'भाग' और 'बलिदान' है। तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुंज समझा है। इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति ऐतरेय ब्राह्मण में लिखी है, जिस को पंडितजी ने न जान कर मेरे लेख पर विरुद्ध सम्मति दी है।

पं० महेश०—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है। स्वामीजी 'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति०' इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं, कि जिस में अग्नि शब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं। और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं, और कहते हैं कि सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है। और यह अर्थ 'अग्रणीः' शब्द से लेते हैं। जैसा कि निरुक्त-कार समझता है कि अग्नि शब्द 'अग्री-नी' से मिल कर बना है। निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है। शतपथ ब्राह्मण जिस को स्वामीजी मानते हैं विशेष अर्थ बताता है परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं, लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वामीजी—अब जो पंडितजी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही सम्मति देता है, सो नहीं। क्योंकि निरुक्त में 'अग्नि' शब्द से 'परमेश्वर' और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है। तथा उस में अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है। क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं। इसलिये उस में रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों का निरूपण मुख्य करके किया गया है। जैसे कि 'इतात्, अक्तात्, दग्धात् वा नीतात्' इन में 'इण्' धातु गत्यर्थक, 'अञ्जू' व्यक्ताद्यर्थ, 'दह' भस्मीकरणार्थ, 'णीञ्' प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि 'इण्' और 'अञ्जू' इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति, ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इन में ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं।

और 'अग्रणी' शब्द तथा 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽगं नयति।' इस के अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर और 'न क्नोपयति न स्नेहयति' इस से भौतिक पदार्थ में लिया जाता है। यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है, मन्त्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ में ठीक ठीक लिख दिया गया है। जो उस को पंडितजी यथार्थ विचारते तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ का विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है। परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते, उन को उस के विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र०' हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द का भौतिक का वाची ढूंढें, किन्तु मैं यह बताता हूं कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चयहोता है कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

स्वामीजी—पंडितजी का कथन है कि हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूंढें इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूं, सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से निर्भ्रमता के साथ सिद्ध है। परन्तु पंडितजी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है, उस का हेतु यह मालूम पड़ता है कि पंडितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्य्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं, इसलिये वहीं तक उन की दौड़ है।

परन्तु मैं उन से मित्र भाव से कहता हूं कि वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिस से ऐसी ऐसी तुच्छ शंका हृदय में उत्पन्न न हों। क्योंकि जो जो शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में धरे हैं, वे क्या शतपथ के नहीं हैं? जो शंका हो तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें।

और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पंडितजी ने धरा है उस में मुख्य पाठ उन्होंने पहले ही उड़ा दिया। इस चालाकी को देखना चाहिये कि—'तद्यदेनं मुखाद-जनयत्तस्मादन्नादोऽग्निः स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥" इस में 'अन्नाद' शब्द अग्नि का वाची है। और 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः ॥' यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन परमेश्वर के विषय में है। अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूं। और 'अन्नाद' अग्नि को कहते हैं, इस से यहां भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है।

और दूसरी चाल पंडितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है, उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा। देखिये कि—

"प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात्कारणात् एनं भौतिकमग्निमजनयत्तस्मात्स परमेश्वरोऽन्नादोऽग्निरर्थादग्निसंज्ञो विज्ञेयः। यो मनुष्यो ह इति निश्चये नैवममुना प्रकारेणैतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति ह इति प्रसिद्धे स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति ॥"

इस प्रकार से यह बात निश्चय होती है कि पंडितजी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक ठीक नहीं जानते। और जितना जानते हैं उस में भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते। पंडितजी को विदित हो कि यहां पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तर लेख वा उन की परीक्षा नहीं है। इस से जो कुछ वे लिखें सो विचारपूर्वक होना चाहिये कि उन को किसी की खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो जो शतपथ के प्रमाण मैंने वहां वहां लिखे हैं, उस का अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है, उन को ध्यान देकर देख लेवें।

पं० महेश०—'अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥' पृथिवी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है। इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिये कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है।

स्वामीजी—फिर जो पंडितजी ने 'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः' इस में अपना अभिप्राय जाताया है कि क्या पृथ्वी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है, इस में पंडितजी से मैं पूछता हूं कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्य्यादि लोकस्थ अग्नि ईश्वर अर्थ में ग्रहण करते, तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से पृथिवीस्थान नहीं हो सकता।

और उन को विचारना चाहिए कि 'पृथिवीस्थानं यस्य सः परमेश्वरोऽग्निर्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम् ।' इस वचन के अर्थ पर उन का अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है, जब कि यहां पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है । तथा कार्य्य और कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं । फिर इन का अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता । क्योंकि रूप गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है, और न केवल चूल्हे वा वेदि में धरा हुआ ।

तथा पृथिवी—स्थान शब्द के होने से अग्नि शब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है । जैसे—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरं पृथिवीमन्तरोऽयमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः ।।"

यह वचन शत० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ५ कण्डिका ७ का है, कि जिस में पृथिवीस्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है । क्योंकि जहां कहीं अन्तर्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है, वहां एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है । जैसे–"स त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः ।।" अर्थात् गौतम ऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गोतमजी ! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उस से पृथक् भी है, तथा जिस को पृथिवी नहीं जानती, जिस के शरीर के समान पृथिवी है; जो पृथिवी में व्यापक होकर उस को नियम में रखता है, वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्य्यामी आत्मा है ।

इतने ही से बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं ?

पं० महेश०—तथा देवता विषय में उस का कैसा विचार था, आगे के प्रमाण अङ्गरेजी टीका सहित लिखते हैं–"यत्कामऋषिर्यस्यां०" जिस मन्त्र से जिस देवता की स्तुति की जाती है, वही उस मन्त्र का देवता है । "महाभाग्याद्देवतायाः०" अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उस में बहुतसी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है, उस के सिवाय और और देव उस के अङ्ग हैं । प्राचीन अनुक्रमणिकाकार भिन्न २ मन्त्रों के पृथक् पृथक् देवता विभाग करता है । और इस का प्रमाण स्वामीजी ने माना है । देखो पृष्ठ १ पं० २ तथा पृ० २३ पं० १४ इसी विषय की ।

परन्तु बात काट के उस के असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि वायु आदि नहीं । यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं । इस बात का प्रमाण ऐतरेयो-

पनिषद् में लिखा है कि जिस को स्वामीजी भी मानते हैं। जैसे:—"निहितमस्माभिरेतद्यथावदुक्तमनसीत्यथोत्तरप्रश्नमनुब्रूहीति० इत्यादि ॥ ४ । ५ । ६ ॥

स्वामीजी—"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ॥" इस का उत्तर भूमिका अङ्क ३ के देवता विषय में देख लेना। वहां अभिप्राय सहित लिख दिया है। अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है, पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं।

अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न भिन्न देवता मानता है, सो भी इस अभिप्राय से है कि इस मन्त्र का अग्निदेवता इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि वहां केवल नाममात्र का प्रकाश है विशेष अर्थ का नहीं। वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं। तथा सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है। सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है, वहाँ देख लेना, कि व्यावहारिक अग्नि वायु को देवता किस लिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है।

ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगत्रूप समझना, यह हिन्दुओं की बात होगी, आर्यों की नहीं। हम लोग आर्य्यावर्त्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमस्थ ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध सनातन निर्विकार अज अनादिस्वरूप जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन पालन और विनाश करने वाला है। और हिन्दू उस को कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्य मार्ग से विरुद्ध चले। इस में पंडितजी ने जो मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण धरा है सो भी बिना अर्थ जाने हुए लिखा है। क्योंकि वहां ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है। तद्यथा:—

"यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह। यः सुयुक्तोजस्रं चिन्तयति तस्माद्विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यत ब्रह्म। स ब्रह्मणः पर एता अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यपक्षय्यमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वानेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते॥"

जो पंडितजी इस प्रकरण का अर्थ ठीक ठीक समझ लेते, तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं, ऐसा कभी न कह सकते। क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहां भी हैं। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान 'शतपथ ब्राह्मण' में अन्तर्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त २४ अर्थात् अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर शरीरी अर्थात् व्याप्य सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है सो देख लेना।

उसी शतपथ में पाँचवें ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में– "अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योस्ति द्रष्टेत्यादि।' व्याप्यव्यापक सम्बन्ध पूर्वोक्त अलङ्कार से यथावत् दिखला दिया है। इस से—

"ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् ।" इस का अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतनामात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'यह सुवर्ण खरा है', तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं। इसी प्रकार जैसे कार्य्यजगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है, वैसे ब्रह्म नहीं। किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है। यह इस वचन का ठीक अर्थ है। क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि:—

"यावास्याग्रयास्तन्वस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयाच्चातस्ताभिः स हैवोपर्य्युपरि लोकेषु चात्यथ कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य ।।"

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उस की अर्च्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग करता इस के उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचों बीच रहता हुआ, अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है। सब मुक्त पुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है।

इस के आगे भी 'मैत्र्युपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी "त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिरग्निः" इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं। इस से यह बात पाई गई कि यद्यपि पंडितजी प्रोफेसर ग्रिफिथ टानी साहब के वकील भी हुए, तथापि मुकद्दमा में खारिज होने के योग्य हैं। तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देने वाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं।

पं० महेश०—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः ।।" जो लोग निरुक्त के समझने वाले हैं, वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं। अग्नि, वायु और सूर्य। इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक् पृथक् होने से उन को कई नामों से बोलते हैं।

"अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाःस्युरित्येके चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ।।"

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं। कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा। तथा कितने ही चेतन नहीं हैं जैसे सिक्का, वनस्पति आदि।

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं—अग्नि, वायु और सूर्य, जिन के गुणों की व्याख्या कर दी है। अब अग्नि के गुण बताते हैं, अर्थात् वह देवताओं के पास चढ़ावा पहुँचाता है। तथा उन को यज्ञ में बुलाता है, ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं।

"अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ।।"

जो अग्नि पृथिवी पर रहता है, प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं। इस का अग्नि नाम क्यों हुआ, क्योंकि वह प्रथम ही आता है, देखो 'अग्निमीडे' इत्यादि।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज नहीं समझा है। यह ब्रा० और नि० से स्वामीजी का कथन ठीक नहीं। श्रौत सूत्र जो वेद की प्राचीन व्याख्या है, यद्यपि स्वामीजी ने उस का कोई प्रमाण नहीं दिया, परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूं—सू० २६। कण्डिका १। अ० १ तथा सू० ७। कं० १३। अ० ४ में देखने से साफ मालूम होता है कि 'अग्निमीडे०' यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजा विधान में लिखा गया है।

स्वामीजी—इसके आगे पण्डितजी "तिस्र एव देवता०" इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं। सो उन्होंने इस का भी अर्थ ठीक ठीक नहीं जाना। क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं। अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता। इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८वीं से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ तक देखने से ठीक ठीक उत्तर मिल जायगा।

और इस के आकार चिन्तन से यह अभिप्राय है कि—जिस जिस पदार्थ में जो जो गुण होते हैं, उन का यथावत् प्रकाश करना 'स्तुति' कहाती है। सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है। इसी प्रकरण में "एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथगिव स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि ।।' इस पंक्ति का अर्थ पंडितजी ने न विचारा होगा, नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते। क्योंकि देखो—

"तासां माहाभाग्यादेकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ।।"

इसका अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई कई नाम लिखे हैं। तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं। उन्हीं पृथक् पृथक् गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है। तथा उसी के वेदों में सर्व सुखदायक स्वयं प्रकाश सत्य ज्ञान प्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं।

इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है, केवल एक का नहीं। और—

"तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ।।"

इस का अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन, साहचर्य अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है—एक समवायसम्बन्ध, दूसरा संयोगसम्बन्ध। समवाय नित्य गुण गुणी आदि में होता है, और संयोग सम्बन्ध गुणी और अगुणियों का होता है। जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना, कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्य व्यापकतादि प्रकार से है। इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता।

तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को जल चढ़ाना वा पहुंचाना है, तथा मन्त्र देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुंचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त कर देना परमेश्वर का काम है।

"अग्निः पृथिवीस्थान०" इस की व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और "अग्निमीडे" इस की व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मंत्र के भाष्य में लिख दी है परन्तु वहां भी दो ही अग्नि लिये हैं। क्योंकि एक अध्येषणा कर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजा कर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है।

तथा "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः०" इस मंत्र की व्याख्या में निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

"स न मन्येतायमेवाग्निरित्यिप्येत उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते॥"

इसका अर्थ यह है कि—वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है, चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युत्रूप और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप और सब का प्रकाशक है तथा जो परमेश्वर का अग्नि शब्द से ग्रहण करना कहा है, एक आनन्दस्वरूप परमात्मा का स्वीकार है, जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं, मेरी बात की पुष्टि करते वा नहीं। तथा पण्डितजी की पकड़ ठीक है वा नहीं?

और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं, उसका भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहां तो केवल होमक्रिया करने का प्रसङ्ग है, और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक् पृथक् लिखे हैं, इसलिये वहां तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिस का काम है, उसको वही करे, यहां उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उस का लिखना व्यर्थ है।

तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय में तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहाँ भी पण्डितजी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं करा सकते। किसलिये कि वहाँ मन्त्र ही देवता हैं। और शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सब को उचित है। वही मन्त्र का पाठातिदेश किया है अर्थ नहीं। इस से सूत्र का लिखना पण्डितजी को योग्य नहीं था, क्योंकि वहां तो केवल क्रियायज्ञ का प्रकरण है, दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—'अग्निमीडे' इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामीजी ने नहीं दिये। परन्तु कई मन्त्रों का प्रमाण धर के कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है, सो उन मन्त्रों की साधारण विचार परीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उन से स्वामीजी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र 'इन्द्रं मित्रम्०' वे उस को इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किस को सन्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बताते हैं। खैर, कुछ ही हो, परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता।

और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं तो उस को शब्द और २ देवताओं के नाम से लाते हैं उस के बल आदि गुण बताने के लिये। 'तदेवाग्नि०' शुक्लयजुर्वेद से कि जिस के समान कृष्णयजुर्वेद में भी है—देखो 'तैत्तिरीय आरण्यक अ० १। प्र०।' इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो—'जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था है और रहेगा, जिस का तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिस से वेद उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं। जिस के मन से चन्द्रमा नेत्रों से सूर्य कानों से वायु और प्राण और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है।

इसके बाद स्वामीजी मन्त्र का प्रमाण देते हैं, जैसे—'तदेवाग्नि०' अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण नाम हैं। जैसे अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते, सिवाय इसके जो 'तदेवाग्नि०' पदभेद को विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामीजी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असंभव होगा जैसे कह दे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

'अग्निर्होता कविक्रतुः०' स्वामीजी 'कवि' शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं तथा सत्य का विनाशरहित, परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है। और स्वामीजी भी जब मन्त्र को शास्त्र-सम्बन्धी अर्थ में लेते हैं तो कई प्रकार के अर्थ

करते हैं। कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी लें तो वह उनके अभिप्राय को अग्नि ईश्वर का नाम है नहीं खोलता। क्योंकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं। क्योंकि मैंने 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण मन्त्र-भाष्य के आरम्भ में लिखे हैं। उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूद कर चले गये हैं। इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मन्त्रों का अर्थ मालूम नहीं। और विना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं? उन का यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामीजी का अर्थ नहीं निकल सकता।

अब विद्वान् लोग पण्डितजी के लेख की परीक्षा करें। अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि 'इन्द्र मित्रं०' इस मन्त्र में 'उसको' शब्द किस के लिये आया है इत्यादि। तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिए आया है इत्यादि। सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि विना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं। इस ग्रन्थ में भी अग्नि का पाठ दो बार है। एक—

'इन्द्र' मित्रं वरुणमग्निमाहुः.....।.....अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।"

इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर। तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं, अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम्'

अर्थात् एक शब्द से परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेदमन्त्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। तथा सबका निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ में लिख दिया है, उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना। क्योंकि वहां भी—

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'

इस का यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है। तथा 'इममेवाग्नि०' इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है। क्योंकि विना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है।

इस मन्त्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में प्रकाशित कर दिया था, तिस पर भी पण्डितजी न समझे। बड़े आश्चर्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रान्ति में गिर पड़ते, और उन प्रमाण मन्त्रों के यथार्थ अर्थ को उलटा समझते हैं। क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहा कर बार बार यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।

जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं, वैसे ही 'तदेवाग्नि०' जो इसमें तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक ठीक नहीं जाना। क्योंकि वहां परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल में एक रस रहता है, अर्थात् जब जब जगत् हुआ था, है और होगा तब तब वह—

'तदक्षरे परमे व्योमन्।'

सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकि—

'येनावृतं खं च दिवं मही च० इत्यादि।'

जिसने आकाश सूर्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

'येन जीवान् व्यवसर्ज भूम्याम्।'

जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है।

'अतः परं नान्यदणीयमस्ति।'

जिससे सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। तथा जो सब से परे एक अद्वितीय अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषण युक्त है।

'तदेवावर्त्तत्तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्।'

वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्त्वमय है, वही सत्य, वही ब्रह्म तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट देवता है।

और 'तदेवाग्नि०' अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है।

'सर्वे निमेषा जज्ञिरे इत्यादि।'

जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥'

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता, अर्थात् कोई उस को आँख से नहीं देख सकता किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

तथा जिस अनुवाक का पण्डितजी ने नाम लिखा है, उस का अभिप्राय और ही कुछ है। अद्वैत शब्द का अर्थ उनकी समझ में ठीक ठीक नहीं आया। क्योंकि उन के मन में भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं, किन्तु परमेश्वर ही जगत्रूप बन गया है। क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे घोड़ा, गौ और खटमल आदि निकले हैं। इस से उन का अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत् बन गया है।

यह भ्रान्ति उन को वेदादि शास्त्रों के ठीक ठीक न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो 'अद्वैत' शब्द परमेश्वर का विशेषण है, कि जैसे एक एक मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है, वैसा परमेश्वर नहीं, किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ९० की पंक्ति २० में मिलता है। जैसे—

'न द्वितीयो न तृतीयः ॥' इत्यादि में देख लेना। तथा—

"पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ॥"

इत्यादि मन्त्रों का अर्थ भूमिका अङ्क ५ से ११८ पृष्ठ में 'सहस्रशीर्षा०' इत्यादि की व्याख्या से लेकर अङ्क ६ के १३४ पृष्ठ की समाप्ति पर्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा। और—'अग्निर्होता कविः क्रतुः० ॥'

इसके अर्थ विषय में जो पंडितजी को शङ्का हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सब को जानने वाला है। सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है इस मन्त्र का अर्थ वेदभाष्य के अङ्क १ पृष्ठ १६ में देख लेना—क्रतुः सब जगत् का करने वाला, सत्यश्चित्रश्रवस्तमः—इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़ के विद्या की आँख से मनुष्य देखता है, तब उस को सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता है। और जब इस प्रकार की ठीक ठीक विद्या ही नहीं तो उस को सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता।

तथा निघं० अ० ३ खं० १५ में 'मेधावी' का नाम कवि लिखा है। सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ० ४०। म० ८—'सपर्यगाच्छुक्र० ।' इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहाँ भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक ठीक सिद्ध करते हैं। तथा पंडितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता किन्तु उन की न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—'ब्रह्म ह्यग्निः' जो कि आगे की संस्कृत में आता है जैसे—

'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति० ॥' इस में अग्नि को ब्राह्मण कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—ब्रह्म है। और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ देवताओं को पहुंचाता है। शत० कां० १। अ० ४। ब्रा० ४। २ इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं किन्तु ब्राह्मण और भारत, अग्नि में लगाये हैं।

'आत्मा वा अग्निः।' यह शत० कां० ७। अ० ३। ब्रा० ३। कं० ४ के अगले प्रमाण में आया है। जैसे—

'यद्वेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणाति। आत्मा वा अग्निः। प्राणः सोमः। आत्मानं ततः प्राणं मध्यतो दधाति।'

अर्थात् 'बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है तथा प्राण नाम सोम का है, और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं।' यहां आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है, तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलङ्कार रूप से है। इसीलिए सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११ भी शतपथ ब्राह्मण से लिये गये हैं जिस में इस बात का नाम नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे किन्तु जहां से ये प्रमाण रक्खे हैं, वे बराबर होमादि का विधान करते हैं, और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं।

ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पञ्चवायु आदि से तथा १३ में ईशान, शंभु, भव, रुद्र आदि। ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके। सब वस्तु ब्रह्म है, इन प्रमाणों से भी स्वामीजी के कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय 'अग्निरिवाग्निना पिहितः' ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो 'अग्निरिव' से उत्पन्न होता है। साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है, परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हैं, जो कह दिये गये।

स्वामीजी—इसके आगे जो जो प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं, उन को तो देखते विचारते नहीं परन्तु इधर उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवें। 'ब्रह्म ह्यग्निः' इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है तथा—

'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति ।'

इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं, क्योंकि वहां 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह नियम कहीं नहीं लिखा—

'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उवा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्मादेवाह भारतेति ।'

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे । क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर ! आप महान्—सब से बड़े हैं और बड़े होने से 'ब्राह्मण' तथा सब प्रजा को धारण करने से 'भारत' कहाते हैं, और विद्वानों के लिये सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं, इसलिए भी आपका नाम भारत है । इस कण्डिका के अर्थ से यथावत् सिद्ध होता है कि अग्नि, भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं ।

और जो 'आत्मा वा अग्निः' इस में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है, इससे दोष नहीं आ सकता । यही मेरा अभिप्राय है, इसको पण्डितजी ठीक ठीक नहीं समझे और—'तस्मादयमात्मन् प्राणो मध्यतः ।।"

इसका यह अर्थ है कि—'(अयम्) यह होम करनेवाला परमेश्वर का उपासक सब के बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है । क्योंकि सब के प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं । इससे सब का आत्मा प्राण के बीच में है, और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है । परन्तु—'स उ प्राणस्य प्राणः ।।' इस केनोपनिषद् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है । इससे यहां आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है ।

और आत्मा का नाम अग्नि अलङ्कार से नहीं, किन्तु संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध से है । क्योंकि उस प्रकरण में वैसे ही, अग्निनाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं । और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है । सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् बल बढ़ाने का निमित्त है । परमेश्वर का नाम सोम है । सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है और जहां जहां से प्रमाण लिखे हैं, वहां वहां सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है । परन्तु पण्डितजी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है, यह केवल उनका आग्रह है, इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका ।

और—'प्राणो अग्निः परमात्मेति ।' यह मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है । प्राण, अग्नि, परमात्मा, ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं ।

तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में स्पष्ट हैं। और 'सब वस्तु ब्रह्म है' इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूं। पण्डितजी वेदादिशास्त्रों को न जान कर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं। इस प्रकरण में प्राण अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं। उनका अर्थ विना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता। क्योंकि 'पञ्चवायु' इस शब्द से पण्डितजी को भ्रम हुआ है। इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है। क्योंकि जिसमें पांच वायु स्थित हों सो 'पञ्चवायुः' परमेश्वर कहाता है। और इस प्रकरण में 'विश्वभुक्' आदि शब्द भी हैं, इससे दोनों अर्थ वहां लिये जाते हैं।

'य एष तपति अग्निरिवाग्निना पिहितः। एको वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वाऽऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। तस्माद्वा एष उभयात्मैवं विदात्मन्येवाभिध्यायत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम्।'

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य्य के समान सर्वत्र तप रहा है, जिसको सब विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं तथा सब प्राणियों को अभयदान दे के विषयों में इन्द्रियों को रोक के एकान्त देश में समाधिस्थ होकर इसी मनुष्य-शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं वह परमेश्वर विश्वरूप है। अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है, और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं, वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्य्यादि को तपाने वाला असंख्यात ज्योतियुक्त अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से सह वर्त्तमान, सब का प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञान-स्वरूप से उदित और चराचर जगत् का आत्मा है। उस परमेश्वर को जो पुरुष उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उस का पूजन करता है, वही मुक्ति को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार से—'उपलभेतैनमिति।' मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डितजी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है, यह मैं भी जानता और मानता हूं, परन्तु पंडितजी ने मेरे लेख में उन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा, यह बड़ा आश्चर्य है।

पं० महेश०—'अग्निः पवित्रमुच्यते' पवित्र शब्द की खराबी लगी है कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य

कहना चाहता हूँ कि एक बड़ा भाग मनु का जो कि हिन्दू धर्म का बयान करता है। स्वामीजी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उन की चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में स्थित देखना चाहिये, आत्मा सर्व देवता है, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं। कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई कोई उसको नित्य ब्रह्म कर के समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है स्वीकार करता है कि सब समान हैं, वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है—

'सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः। आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।'

अब देखना चाहिये कि ये सब मन्त्रों के प्रमाण स्वामीजी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं, सो कैसे वृथा हैं।

स्वामीजी—'अग्निः पवित्रमुच्यते' इसका उत्तर हम दे चुके और मनु के प्रमाण के विषय में पंडितजी का लेख विपरीत है। क्योंकि जो आर्य्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है उसको पंडितजी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूं। इस से मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है, परन्तु पंडितजी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती। क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पंडितजी ने कुछ भी नहीं समझा। 'प्रशासितारं सर्वेषां०।' इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति 'एतमेके वदन्त्यग्निम्०।' इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—'अपरे ब्रह्म शाश्वतम्।' इस वचन से भी ठीक ठीक निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है। उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं। इस सुगम बात को भी पंडितजी ने नहीं समझा, यह बड़े आश्चर्य की बात है। और—

'सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥ १॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ २॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ ३॥

इन श्लोकों से पंडितजी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं, और सब जगत परमेश्वर में स्थित है। यह पंडितजी का जानना बिलकुल मिथ्या है। क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते। 'समाहितः' इस पद को

अशुद्ध करके 'समाहितम्' यह पंडितजी ने लिखा है, 'जो समाधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्य्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे, वह कभी अपने मन को अधर्म युक्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥ १ ॥

आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं को रचने वाला, और जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों का उपास्य देव तथा सब जीवों को पाप पुण्य के फलों का देने हारा है ॥ २ ॥

इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है, वह सब को अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है। वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अब देखना चाहिये मेरे वेदभाष्य पर विना समझे जो पंडितजी ने तर्क लिखे हैं, वे सब मिथ्या हैं, क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे।

पं० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि हे जीव ! तुम इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूं। तिस पर जीव कहता है कि मैं अपने ईश्वर की स्तुति करता हूं जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध अविनाशी, अजन्मा, आदि अन्त रहित, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दूसरे की नहीं। इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नहीं देते हैं। संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है। परन्तु उनकी ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं।

अब 'अग्निमीडे०' पुरोहित शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं—वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता तथा हर एक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामीजी हित शब्द को 'डुधाञ्' धातु से बनाते हैं जिस से आगे 'क्त' है, इस में वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं।

'पुरोहितः पुर एनन्दधाति०।'

यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं व्याकरण की रीति से इस 'हित' शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं, स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है सकर्मक गौण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र सिद्ध करदें परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है, उस के प्रमाण उसी मन्त्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं, वहां ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे। तथा 'पुरोहित' शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है, सो भी वहां देखने से ठीक-ठीक मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पण्डितजी 'पुरोहित' शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं, किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं, यह उन का कथन कैसा है कि जैसा प्रमत्तगीत अर्थात् किसी ने किसी से प्रयाग का मार्ग पूछा—उसने उत्तर दिया कि वह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है।

'पुरोहित' शब्द के साधुत्व में यहां व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

'आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च ।। अष्टा० अ० ३। पा० ४। सू० ७१ ।।' इस से आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्त्ता में सिद्ध है। क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेदद्वारा सकल पदार्थ विज्ञान करा देना यह परमेश्वर का आदि कर्म है। इस के न होने से सत्यासत्य का विवेक और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना और परमेश्वर के न होने से उसकी भक्ति होना, ये सब परस्पर असम्भव हैं।

निरुक्तकार ने भी 'पुरोहित' शब्द में 'डुधाञ्' धातु से कर्त्ता में 'क्त' प्रत्यय मान कर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहां अन्वयादेश इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है। उसी परमेश्वर को संसारी जन इष्टदेव मान कर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

'विश्वस्मा उग्रकर्मणे पुरोहितः ।। ऋ० मं० १। सू० ५५। मं० ३ ।।' यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है।

और जो पण्डितजी—'यद्देवापिः०' इस मन्त्र में पुराण की झूंठी आख्यायिका कहते हैं, उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उनको इस मन्त्र के अर्थ की खबर भी नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है, उसका भी ठीक ठीक अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डितजी ने 'शन्तनु' शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है, जो 'शन्तनु' शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है, उस की खबर भी नहीं है—

'शन्तनुः शं तनोस्स्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा ।।'

जिस का यह अर्थ है कि (शं) कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिस से वह परमेश्वर 'शन्तनु' कहाता है। और जिस शरीर से जीव कल्याण को प्राप्त होता है, इसलिये उस जीव का नाम भी 'शन्तनु' है। इससे पण्डितजी ने इस में जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है।

अब 'यज्ञ' शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है, सो बात नहीं है। क्योंकि यह लेख और यन्त्रालय का दोष है।

'यज्ञस्य' यह शैषिकी षष्ठी है, पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातमं ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और अग्नि के विशेषण हैं। यह शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है, वैसा समझ लेना चाहिये और निरुक्तकार भी वैसा ही अर्थ लेते हैं क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है, वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है।

और जो 'गौ' शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता क्योंकि प्रकरण, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है और जो 'देव' शब्द के विषय में पण्डितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने जय की इच्छा करने वाले कहाँ से वा कैसे लिये हैं, इसका उत्तर यह है कि 'दिवु' का धात्वर्थ विजिगीषा भी है और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और काम-क्रोधादि शत्रु हैं, उन का जीतने वाला वही परमेश्वर है क्योंकि विविध यज्ञ का रक्षक इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है।

'पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च' ।। इस के अर्थ में पण्डितजी की बहुत भूल है क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व व्याख्या कर दी है और पंडितजी कहते हैं कि निरुक्तकार ने तीसरे अध्याय के १९ खण्ड में 'यज्ञ' शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है, सो झूंठा है क्योंकि वहां अर्थ की निरुक्तिमात्र कही है, सिद्धि कुछ भी नहीं और जो निघण्टु के अ० ३। खं० १७ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता, यह बात पण्डितजी की भ्रान्तियुक्त है क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है, इस के साथ उनको मिला कर देखो।

और पण्डितजी निरुक्तकार के विषय के कहते हैं कि 'देव' शब्द के अर्थ देने वाला, प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला ये तीन ही हैं। इस देवशब्द विषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अङ्क के ६३ पृष्ठ की ५ पंक्ति से देखलेना चाहिये। निरुक्तकार—'यो देव: सा देवता०' इत्यादि जो पांच अर्थ लेते हैं, उन को पण्डितजी ठीक ठीक नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं। इस में पण्डितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजम्' 'होतारम्' और 'रत्नधातमम्' शब्दों के कई कई अर्थ अद्भुत रीति से करते हैं परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्य', 'देवं' शब्दो से सिद्ध कर चुका हूं। इसलिए विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी 'ऋत्विजं' का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब वस्तुओं में पूजा की जाय परन्तु सब के प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ाने वाले अर्थात् भेट करने वाले के हैं और न कि जिस को भेट चढ़ाई जाय। यह बात भी निरुक्त की साक्षी से सिद्ध है कि जिस का स्वामी जी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पंडितजी 'ऋत्विज्' शब्द पर लेख करते हैं, सो भी ठीक २ नहीं वे समझे।

'कृल्ल्युटो बहुलम्।' इस वार्तिक का अर्थ भी नहीं समझे, क्योंकि इस वार्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं जो कि वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रयुक्त हों। इसलिए इस वेदभाष्य में जो इस का अर्थ लिखा गया है सो व्याकरण से सिद्ध है परन्तु पंडितजी 'ऋत्विज्' शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०—स्वामीजी 'होतारं' शब्द के जो कई अर्थ करते हैं, उन में एक 'आधातारं' अर्थात् ग्रहण करने वाले के हैं, यह भिन्न पद है कि जिन से अर्थ लिये जाते हैं। 'होतारं' जो 'हु' से बनता है, जिस के अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से 'अदन' होते हैं और इस ग्रन्थ को स्वामीजी मानते हैं। जैसे—'हुदानादनयोरादाने चेत्यके।' 'हु' धातु के अर्थ दान अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना, अदन का अर्थ ग्रहण वा आदान अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्त दर्शन का एक सूत्र है—

'अत्ता चराचरग्रहणात्।'

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उस में आया है, उसके अर्थ आदान के नहीं हो सकते किन्तु उस के अर्थ कुछ और ही हैं, नहीं तो उक्त नियम के अनुसार 'आदाने चेत्येके' कैसे बन सकता। किसी के मत में हो धातु का अर्थ भी आदान होता है, इस से मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया। अर्थात् उस अर्थ में कि जिस में स्वामीजी ने लिया है।

इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध कर सकें कि अदन आदान के अर्थ में आता है तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो यह माना, फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं लगा सकता तथा पंडितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्त सूत्र भी जिस को कि स्वामीजी मानते हैं, अदन को आदान अर्थ में सिद्ध नहीं कर सकता है, यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने 'हु' धातु से अर्थ लेने की अनेक युक्तियाँ घूम घूम कीं, परन्तु न मालूम स्वामीजी 'होतारम्' शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में ऐसे अधीर क्यों हो गये। निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता।

अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिसको पढ़ने वाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब 'होता' शब्द पर पण्डितजी के लेख की परीक्षा करता हूँ। पंडितजी को यह शङ्का हुई कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे तब आदान व्यर्थ हो जायगा परन्तु इसमें यह बात समझी जाय कि जब होता शब्द परमेश्वर का

विशेषण है तब क्या किसी मनुष्य को शङ्का न होगी कि परमेश्वर भी अत्ता होने वाला होने से जगत् का भक्षणकारक होगा। इस की निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर का जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है, वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हां, धारण शक्ति से व्यापक होके ग्रहण अर्थात् धारण तो कर रहा है। इसलिए इस शङ्का का निवारण इस अर्थ के विना नहीं हो सकता।

और जो पंडितजी ने लिखा है कि धातुपाठ के कर्त्ता का यह अभिप्राय नहीं है, सो भी पंडितजी की समझ उलटी है। क्योंकि जब 'हु' धातु का केवल ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो, तब यह दोष 'देवदत्तो भोजनं जुहोत्यत्तीत्यर्थः' ऐसे वाक्य में 'अदन' शब्द भक्षण के अर्थ में ही आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने 'हु' धातु तीन अर्थों में लिखा है। 'आदाने चेत्येके' इस के कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातुपाठकार के मत में 'हु' धातु दान और अदान इन दोनों अर्थों में है और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान दोनों ले लिये जावेंगे परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं। धातुपाठकार नहीं। इसीलिये आदान अर्थ का पृथक् ग्रहण किया है। इससे जानलो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातुपाठ की वृत्ति में ठीक ठीक मेरा अभिप्राय मिलता और मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है। पण्डितजी की नहीं।

इसी प्रकार वेदान्त का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है। पंडितजी की कुछ भी नहीं क्योंकि 'अत्ता' शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्त सूत्रकार का अभिप्राय है। 'आदान' शब्द के अर्थ के लिये नहीं क्योंकि 'आदान' शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र आदि प्रमाणों के विना 'अत्ता' शब्द को ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पण्डितजी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुत से यत्न करते हैं परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है।

इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें। और पण्डित महेश० न्यायरत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों की वेदार्थ विरुद्ध टीका और वैसे ही अंग्रेजी में जो वेदों पर मूलार्थ विरुद्ध उलटे तरजुमे हैं, उनके सिवाय ब्रह्माजी से लेके जैमिनि मुनि पर्य्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है। नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते। हां मैं कह कहता हूँ कि—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किरातः करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥

'चोर कोटपाल को दण्डे' अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं, वे ऐसे दृष्टान्त के योग्य होते हैं कि जो जिस के उत्तम गुण नहीं जानता वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे कोई जङ्गली मनुष्य गजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़ के घुंघुची का हार बनाकर गले में पहन कर फूला फूला फिरे, वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं। क्या इस पत्र को जो जो बुद्धिमान् लोग देखेंगे वे जैसी उनकी पंडिताई को खण्डबण्ड दशा को न जान लेंगे।

परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूँ कि ग्रीफिथ साहब आदि अंग्रेज पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी सम्मुख बैठ कर वेदविषय में वार्तालाप करें, तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मन्त्र का भी अर्थ ठीक ठीक नहीं आता। यह बात सब को विदित हो जावे। मैं चाहता हूँ कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें तो ठीक ठीक विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है, और कौन नहीं। क्योंकि—'विद्यादम्भः क्षणस्थायी।' सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता, परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधानयुक्तपत्रं पूर्तिमगात्॥
संवत् १९३४, कार्तिक शुक्ला २॥